**Research Scholar** : Akbar Mahfuse Alam Rizwi
**Supervisor** : Prof. Durga Prasad Gupt
**Co-Supervisor** : Dr. Khalid Jawed
**Department** : Hindi
**Title** : Hindi-Urdu Ke Pramukh Upanyason Ka Uttar-Aadhuniktavadi Drishti Se Tulnatmak Addhyayan (1990-2010)

## संक्षिप्त शोध-सार

उत्तर-आधुनिकता केवल शैली या सौंदर्यशास्त्रीय मसला भर नहीं है, बल्कि मनुष्यता के इतिहास में एक ऐसी विशेष अवस्था या स्थिति है जो उत्पादन की नयी संस्कृति से व्युत्पन्न है। उत्तर-आधुनिकतावाद समग्रता-विरोधी है किन्तु यह विरोध वैसी समग्रता से है, जिसमें व्यक्ति अथवा हाशिये की संस्कृतियाँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देती हैं। यह प्रवृत्ति से अधिक पद्धति है। साहित्य के लिए यह एक ऐसी दृष्टि है, एक ऐसा 'टूल' है जो पाठ के गिरहबंद अर्थों की परतें उघाड़ने में सक्षम है। उत्तर-आधुनिकतावाद पाठ के बंद पार्श्वों को खोलता है।

उत्तर-आधुनिक रचनात्मक परिदृश्य उर्वर और विविधतापूर्ण है। भारत की बहुलतावादी संस्कृति, समाज और साहित्य को देखने-समझने का कारगर औज़ार उत्तर-आधुनिकतावाद ही हो सकता है। सृजनात्मकता तो हमेशा 'यूनिफॉर्मिटी' के विरुद्ध ही खड़ी होती है। यह असमान, अव्यवस्थित और अबाधित होती है तथा इसका सीधा संबंध स्वतंत्र वातावरण से होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो हिन्दी-उर्दू उपन्यासों के लिए ये दो दशक इतने वैविध्यपूर्ण नहीं होते।

पिछले दो दशकों के हिन्दी-उर्दू उपन्यासों को किसी बड़े वैज्ञानिक सत्य अथवा ज्ञान के असीम भंडार से विलग करके नहीं देखा जा सकता। उपन्यास के दायरे में अब नैतिक आचरण, संस्कृति, राजनीति, विज्ञान, समाजविज्ञान, इतिहास आदि सबकुछ घुलमिल गए हैं तथा उत्तर-आधुनिकतावाद ने एक नयी वंश-परम्परा भी रची ली है। अमूर्त और कथानक रहित कथा-प्रयोगों का चलन भी शुरू हो गया है। कथा में कई प्रकार के कोलाज दृष्टिगत् होते हैं, चाहे वह भाषा के स्तर पर हो या मुहावरे या कि कथा-व्यवहार और विचार के स्तर पर।

भाषा का अपना वर्गीय-चरित्र होता है और साहित्य में दर्ज़ 'बयानिया' अथवा 'आख्यान' भी इससे प्रभावित होते हैं। सावधानी से अवलोकन में यह प्रत्यक्ष होता है कि हिन्दी और उर्दू भाषा में रचित साहित्य में अभिविन्यास अथवा 'Orientation' का फ़र्क़ है। रामविलास शर्मा का यह कथन युक्तिसंगत है कि ''भाषा को आप चाहे संस्कृति का ही अंग मानें चाहे उससे भिन्न, दोनों के घनिष्ठ संबंध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वाक्य-रचना की पद्धति हमारी चिंतन-पद्धति पर निर्भर होती है।'' अतः साहित्यिक पाठ, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दस्तावेज़ है, जिसका प्रत्येक साहित्यिक अर्थ, किसी न किसी मूल्य-तंत्र एवं जीवन-दृष्टि या वैचारिकी से जुड़ा हुआ है।

बाबरी मस्जिद ध्वंस और राजनीति प्रेरित साम्प्रदायिक हिंसा ने हिन्दू-मुस्लिम समुदायों के बीच के रागात्मक संबंध को बहुत गहरे प्रभावित किया। यह संयोग नहीं कि अधिकांश हिन्दी-उर्दू

उपन्यास, चाहे उनकी विषय-वस्तु कुछ भी हो, उसमें साम्प्रदायिकता का प्रश्न 'सब्ज़ी में नमक' की तरह विद्यमान है। यह वैताल की तरह भारतीय मानस के कंधे पर सवार है।

भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के बढ़ते प्रभावों के बीच रिश्तों में आए बदलाव, परिवारों में टूटन, नई पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी से विलगाव, नैतिकता का लोप, जातीय और स्थानीय समस्याओं के साथ ही सांस्कृतिक विचलन की चिंता दोनों ही भाषाओं के उपन्यासों में लक्षित की जा सकती है। बल्कि उर्दू में तो उत्तर-आधुनिकतावाद जैसी 'थ्योरी' को भी औपन्यासिक कृति में ढालने के प्रयास हुए हैं। महत्वाकांक्षाओं द्वारा प्रेरित पलायन से लेकर विकास की अँधी होड़ में पिछड़ते मनुष्य और मानवीय संवेदना तक, यानी जीवन-जगत का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र बचा हो, जो इन दो दशकों में उपन्यास की पकड़ से बाहर रह गया हो! नैतिक-अनैतिक, श्लील-अश्लील जैसे द्वंद्वों से 21वीं सदी का उपन्यास मुक्त नज़र आता है। यहाँ भी बाज़ार की तरह 'एक्साइटिंग' और 'एक्सक्लूसिव' की ललक नज़र आती है।

अपवाद ही सही, किन्तु यह भी एक तथ्य है कि उपन्यासों की संरचना ही नहीं, वरन् रूप पर भी शैथिल्य की चोट के निशान हैं। एक ही उपन्यास में कई 'टेक्नीक्स' के इस्तेमाल से रूप एवं शिल्प का बड़े पैमाने पर विखंडन हुआ है। अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश हिन्दी-उर्दू उपन्यास संरचनात्मक स्तर पर शिथिलता के शिकार नज़र आते हैं।

स्त्रियों के मनोभाव एवं उनके क्रिया-व्यापारों को उद्घाटित करने में पुरुष उपन्यासकार सफल नहीं हैं। बल्कि कई हिन्दी-उर्दू उपन्यासों में जिस तरह से स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है, उससे 'स्वानुभूति' की ज़िद बिल्कुल सही साबित होती है।

उर्दू उपन्यासों की भाषा हिन्दी उपन्यासों की तुलना में 'अंडर टोन' की शिकार है। यहाँ संकेतात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अधिक है। जबकि दोनों का सांस्कृतिक परिवेश बहुत हद तक एक ही है। दोनों भाषाओं के बीच शब्दों की साझेदारी में उत्साहवर्द्धक वृद्धि के कारण, पढ़ते वक्त भाषा में विशेष प्रकार की तरलता महसूस होती है। इन दो दशकों के हिन्दी-उर्दू उपन्यासों को पढ़ते वक़्त 'गद्य में पद्य का अहसास' भी घनीभूत होता है। ख़ासतौर से उर्दू उपन्यासों में यह पद्यात्मक-प्रवृत्ति कुछ अधिक ही है।

आज के उत्तर-आधुनिक साहित्यिक परिदृश्य में हिन्दी-उर्दू दोनों एक-दूसरे की पूरक भाषाएँ हैं। हिन्दी की ताक़त यदि उर्दू है तो उर्दू की ताक़त हिन्दी। और यह तथ्य पिछले दो दशकों के उपन्यासों के अध्ययन से और अधिक पुष्ट हुआ है।

अंत में बस इतना ही कि साहित्य और सैद्धांतिकी का संसार इतना सघन और विस्तृत है कि वहाँ 'पैठ' तो आसान है, किन्तु कुछ मनचाहा लेकर निकलना अत्यधिक कठिन। अतः "चंदां कि मी रवेम ब-जाए नमी रसेम/रेग अर रवां बुवद ज़-बियाबां नमी रवद" (कई चाँद थे सरे आसमां)

(हम चाहे जितना भी चलें, कहीं नहीं पहुँचेंगे। रेत चाहे जितनी उड़े, बियाबान से बाहर नहीं निकल सकती।)

**********